

न्यायिक सक्रियता – अर्थ एवं आवश्यकता



दयाचंद

सहायक आचार्य,
राजनीति विज्ञान विभाग,
बाबू शोभाराम राजकीय कला
महाविद्यालय,
अलवर, राजस्थान, भारत

सारांश

न्याय का सम्बन्ध राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक न्याय, दायित्व, नैतिक मूल्यों, आर्थिक विकास, प्रशासनिक निर्णय और वैधानिक प्रक्रिया से है। अतः न्याय की इस अवधारणा को सामाजिक व्यवस्था से अलग करके नहीं देखा जा सकता। शासन व्यवस्था को लोकतांत्रिक ढंग से चलाने एवं प्रभावपूर्ण बनाने के लिए संविधान में राज्य के तीनों अंगों विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के कार्य एवं अधिकारों का स्पष्ट विभाजन करने का प्रयास किया गया। प्रसिद्ध विचारक माण्टेस्क्यू का मानना है कि वहां कोई स्वतंत्रता नहीं हो सकती, जहां न्यायिक शक्तियां विधायनी तथा कार्यकारिणी शक्तियों से पृथक न हो। इसका अर्थ यह हुआ कि नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए न्यायपालिका का स्वतंत्र होना अत्यधिक आवश्यक है। भारत के संविधान में संवैधानिक जनतंत्र की स्थापना की गयी है, जिसमें शासन की शक्तियों का विभाजन किया गया है।

राजनीतिक न्याय व्यवस्था की प्रशासनिक शिथिलता एवं अकर्मण्यता के कारण न्यायपालिका ने यह देखा कि देश के करोड़ों गरीबों, कृषकों, मजदूरों को न केवल सामाजिक और आर्थिक न्याय मिल पा रहा है, बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में वातावरण दृष्टि है तथा जीविकोपार्जन के साधन के साथ-साथ गरिमापूर्ण जीवन यापन मुश्किल हो गया है। समाज के विभिन्न क्षेत्रों में बंधुआ मजदूरी, कैदियों के साथ अमानवीय व्यवहार, विधिक सहायता का अभाव, परीक्षण में देरी, पुलिस यातना एवं दुर्घटनाएँ, गरीब व असहाय को आवास की समस्या, नारी निकेतनों की दुर्दशा के साथ-साथ बढ़ते हुए औद्योगिक विकास एवं गैर-जिम्मेदारीपूर्ण व्यवहार के कारण चारों तरफ फैलता हुआ जल, वायु और ध्वनि प्रदूषण तथा नैतिक पतन हो रहा है जिनके परिणामस्वरूप जनहित में संरक्षण की अत्यंत आवश्यकता है। अतः स्वतंत्रता के लगभग ढाई दशक बाद अन्याय और शोषण झेल रहे लोगों को न्याय प्रदान करने के लिए लोकहित वादों के माध्यम से न्यायिक सक्रियता की संकल्पना का पदार्पण हुआ।

मुख्य शब्द : राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक न्याय, लोकतांत्रिक, गरिमापूर्ण, लोकहित, सामाजिक न्याय, योजनाबद्ध, संकल्पना।

प्रस्तावना

गीता के उक्त श्लोक में यह भाव निहित है कि जब-जब धर्म (न्याय) की हानि होती है और अधर्म (अन्याय) का अभ्युदय होता है, तब तब मैं (न्यायकर्ता) इस संसार में जन्म लेता हूँ। संत पुरुषों (जन-मानस) की रक्षा तथा दुष्ट पुरुषों (बुराईयों) का नाश करता हूँ तथा धर्म (न्याय) की प्रत्येक युग में स्थापना करता हूँ। अतः न्याय को मानव उद्भव के साथ समाज का आवश्यक तत्व माना गया है। न्याय का सिद्धान्त अन्याय, हिंसा, शोषण, दमन, भेदभाव, जातिवाद एवं अस्पृश्यता के विरुद्ध है। तदनुसार मानव सभ्यता एवं न्याय की अवधारणा का विकास सहगामी है। सभ्य समाज लोगों के अधिकारों के आदर का प्रतीक है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता की पूर्ति अन्य के अधिकार की मान्यता के कर्तव्य के रूप में करता है, किन्तु जब समाज में मूल्यों का ह्लास होता है, तो विकृत परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो किसी भी समाज के अस्तित्व के लिए विनाशकारी सिद्ध हो सकती हैं।

न्याय की संकल्पना को सामाजिक न्याय एवं व्यक्तिगत न्याय की अवधारणा में बांटा जा सकता है। सामाजिक न्याय का सम्बन्ध समतावादी व लोक कल्याणकारी विचारधारा से है। इस विचारधारा में ‘‘शक्तिशाली से कमजोर की रक्षा’’ एक प्रमुख सिद्धान्त है और इसमें समानता और स्वतंत्रता का समन्वय एवं सामंजस्य बनाने का प्रयास किया जाता रहा है, जिससे बंधुत्व की भावना का विकास एवं समाज में सभी व्यक्तियों का सर्वांगीण विकास सम्भव होता है। जबकि व्यक्तिगत न्याय की अवधारणा का सम्बन्ध व्यक्ति की स्वतंत्रता से है जो

उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था की कल्पना करती है, जो व्यवित के नैरसिक विकास एवं मानव गरिमा के लिए आवश्यक है।

अध्ययन के उद्देश्य

1. संसदीय शासन व्यवस्था के तीन स्तम्भों की संरचना, कर्तव्य एवं शक्तियों का संबंधात्मक अध्ययन करना।
2. भारत में न्याय व्यवस्था का विकासात्मक अवलोकन, न्यायिक व्यवस्था का प्राचीन, मध्यकालीन से लेकर आधुनिक समय तक का विकासात्मक अध्ययन करना।
3. न्यायिक पुनरावलोकन व न्यायिक सक्रियता, पृथक या समाहित विषय का विवेचन करना।
4. न्यायपालिका की भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में स्वतन्त्रता के पश्चात् बदलती भूमिका का अध्ययन व व्याख्या करना।
5. न्यायिक सक्रियता व सामाजिक न्यायः एक भ्रान्ति या तथ्यात्मक सत्य की वास्तविकता का पता लगाना।
6. न्यायिक सक्रियता की प्रभावशीलता का अध्ययन करते हुए औचित्य (वैधता) रेखांकित करना।
7. न्यायिक सक्रियता के आधार पर व्यवस्थापिका और कार्यपालिका व न्यायपालिका के सम्बन्धों का अध्ययन करना।
8. न्यायिक सक्रियता व जनहितवाद से सबंधित महत्वपूर्ण विवादों का उद्भव से वर्तमान तक व्यावहारिक अध्ययन करना तथा विवादों की गहराई, विस्तार और राजनैतिक गलियारों में मंथन का विश्लेषण करना।
9. न्यायपालिका की कार्यशैली के बारे में और समाज के विभिन्न घटकों की प्रतिक्रिया को जानना।
10. न्यायिक सक्रियता बनाम न्यायिक निश्चयात्मकता के संदर्भ में विश्लेषण करना।
11. न्यायपालिका के विस्तृत होते कार्यक्षेत्र को रेखांकित करते हुए न्यायिक भूमिका के क्षेत्राधिकार या सीमाओं का मंथन करना।

साहित्यावलोकन

प्रत्येक राजनीतिक समस्या का देश, काल एवं परिस्थितियों से घनिष्ठ तथा प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। अतः इस दृष्टि से पूर्व अध्ययनों से संबंधित साहित्य की समीक्षा करना शोध की अनिवार्य आवश्यकता होती है। अतः व्यवस्थापिका व न्यायपालिका के सम्बन्ध में वर्तमान में जो प्रवृत्तियाँ (विरोध/समर्थन/औचित्य आदि) सामने आयी हैं, जिसके कारण यह विषय विभिन्न अध्येताओं के लिए पुनर्विवेचन का विषय बन गया और इस पर अनेक पुस्तकें, लेख आदि निरन्तर प्रकाशित हुए हैं, इनमें से कुछ का विवरण निम्न प्रकार है :-

यशपाल ने अपनी पुस्तक “न्याय का संघर्ष” (दिसम्बर 1954) प्रथम विप्लव कार्यालय, लखनऊ 21, शिवाजी मार्ग, पाँचवा संस्करण में न्याय-व्यवस्था में व्याप्त विरोधाभास पर प्रकाश डाला।

सी.एफ. स्ट्रांग ने अपनी पुस्तक “मार्डन पॉलिटिक्स कॉन्सटीट्यूशन” (1959) प्रसाद एण्ड संस, बांके विलास, आगरा में निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि पूर्व में न्यायपालिका, व्यवस्थापिका व कार्यपालिका तीनों अंग

मिले हुए थे। अतः न्याय मिलने में कठिनाई आती थी, इस कारण तीव्र न्याय के लिए उन्होंने न्यायिक विभाग की स्वतंत्रता की पहल की।

एस.एल. सीकरी ने अपनी पुस्तक ‘ए कॉन्ट्रिड्यूशनल्स हिस्ट्री ऑफ इण्डिया’ (1967) दयानन्द एंग्लों वैदिक कॉलेज, अमृतसर, में विशेषतः न्यायिक व्यवस्था पर अध्ययन मिलता है, जिसमें उन्होंने बताया है कि भारत में सर्वप्रथम 1935 में संघीय न्यायालय की स्थापना हुई तथा बाद में इसे न्याय की सर्वोच्च शक्ति सर्वोच्च न्यायालय नाम दिया गया तथा न्याय की सर्वोच्च शक्ति प्रदान की गई।

उषा सक्सेना ने अपनी पुस्तक “इण्डियन लीगल हिस्ट्री” (1969) न्यू बिल्डिंग्स अमीनाबाद, लखनऊ में सर्वोच्च न्यायालय का न्याय ही अन्तिम शक्ति का आधार माना है तथा न्यायिक सक्रियता के लिए उसे सर्वोच्च शक्ति प्रदान के पहलुओं पर प्रकाश डाला है।

पूर्व न्यायाधीश गुमानमल लोढ़ा ने अपनी पुस्तक “न्यायिक क्रान्ति के बदलते आयाम” (1986) राजस्थान हिन्दी विधि प्रतिष्ठान, यूनिक ट्रेडर्स, चौड़ा रास्ता, जयपुर में न्याय देरी से मिलने के कारणों को बताया है तथा उन्होंने जन साधारण को समुचित व अविलम्ब न्याय उपलब्ध कराने के तरीकों से अवगत कराया है।

आर.ए. मिश्रा ने अपनी पुस्तक ‘कॉड ऑफ सिविल प्रोसेसिंग’ (2001) इलाहाबाद लॉ एम्पोरियम में न्यायिक सक्रियता पर ही विशेष बल दिया है और इस पर बल देते हुए बताया है कि इस हेतु लोक अदालत खोली जाये, ताकि साधारण जन को शीघ्र न्याय मिले, ताकि समय पर पैसे की कम बर्बादी हो।

एस.पी.साठे ने अपनी पुस्तक “ज्यूडिशियल एक्टिविज्म इन इण्डिया” (2003) ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, में भारत में न्यायिक सक्रियता के अध्ययन को ही प्राथमिकता दी है।

एस.पी.वर्मा ने अपनी पुस्तक “डिटेल ऑफ इण्डियन ज्यूडिशियल सिस्टम नीड एण्ड डायरेक्शन ऑफ रिफॉर्मस” (2004) कनिष्ठा पब्लिकेशन्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स में भारत में न्याय व्यवस्था का विस्तार से विश्लेषण किया है।

पी.पी. विजयानन ने अपनी पुस्तक “डिटेल ऑफ रिझैर्चन पॉलिसी एण्ड ज्यूडिशियल एक्टिविज्म” (2005) ज्ञान बुक्स, में भारत में आरक्षण की रूपरेखा व न्यायिक सक्रियता के अध्ययन को प्राथमिकता दी।

कुमारी कृष्णा ए. ने अपनी पुस्तक “ज्यूडिशियल एक्टिविज्म नीज फॉर रिफार्मस” (2008) आई.सी. एफ. ए. आई, यूनिवर्सिटी प्रेस में भारतीय न्यायिक व्यवस्था में सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया है, ताकि प्रत्येक भारतीय को शीघ्र न्याय मिल सके।

गंगादत्त तिवारी ने अपनी पुस्तक “भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन एवं सर्वेधानिक विकास” मीनाक्षी प्रकाशक, मेरठ में वातावरण एवं राजनीतिक पहलुओं को समझाने का प्रयास किया है कि जब कोई देश गुलाम होता है तो उसमें मनोबल का ह्रास होता है, परन्तु उसके परिणामस्वरूप उसे ऐसा नेतृत्व मिलता है, तो वह अपने

राष्ट्र को पुनः स्वाधीन राष्ट्र की श्रेणी में लाकर खड़ा कर देता है।

कैलाशनाथ काटजू ने अपनी पुस्तक ‘कुछ स्मरणीय मुकदमे’ ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी में केवल मुकदमों की चर्चा नहीं की है, बल्कि न्यायपालिका में किस-किस तरह के मामले आते हैं तथा उन्हे किस किस तरह निपटाया जाता है, इन सभी बातों पर विस्तार से विश्लेषण किया।

परिकल्पना

1. संसदीय शासन व्यवस्था के तीन स्तम्भों की संरचना, कर्तव्य एवं शक्तियों में सम्बन्ध पाया जाता है।
2. भारत में न्याय व्यवस्था का विकासात्मक अवलोकन, न्यायिक व्यवस्था का प्राचीन, मध्यकालीन से लेकर आधुनिक समय तक का विकास अनुरूप है।
3. न्यायपालिका की भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में स्वतन्त्रता के पश्चात् बदलती भूमिका में काफी अन्तर आया है।
4. न्यायिक सक्रियता व सामाजिक न्यायः एक भ्रान्ति या तथ्यात्मक सत्य की वास्तविकता का पता लगाना काफी हद तक आसान हुआ है।
5. न्यायिक सक्रियता के आधार पर व्यवस्थापिका और कार्यपालिका व न्यायपालिका के सम्बन्धों में अन्तर आया है।

शोध पद्धति एवं अध्ययन क्षेत्र

भारत में न्यायपालिका के संवैधानिक अधिकारों, कर्तव्यों एवं शक्तियों को समझाना। साथ ही 1970 के दशक में न्यायपालिका की भूमिका में आये एक महत्वपूर्ण बदलाव न्यायिक सक्रियता एवं जनहितवाद की प्रकृति, प्रवृत्ति, आवश्यकता आदि की समीक्षा करना तथा न्यायिक सक्रियता एवं जनहितवाद के सन्दर्भ में शासन के तीनों स्तम्भों में समय-समय पर उत्पन्न हुए विवाद एवं टकरावों तथा इनकी सीमाओं संबंधी समस्त प्रवृत्तियों, न्यायिक शक्तियों, अधिकारों आदि का शक्ति पृथकरण के सन्दर्भ में विवेचन करना। साथ ही सामाजिक न्याय की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं एवं चिन्ताओं का तथ्यात्मक एवं समालोचनात्मक विश्लेषण करना।

भारत में संसदीय प्रणाली के स्वरूप, संसदीय सर्वोच्चता के विचार की वास्तविकता, प्रासंगिकता व वांछनीयता तथा इन सब प्रसंगों में न्यायपालिका की सामर्थ्य व उसकी भूमिका के पूर्वाग्रह मुक्त व स्वतन्त्र परीक्षण की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। अध्ययन के विषय के आयामों का विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से परीक्षण किया गया है। अध्ययन में, व्याख्या और अर्थात्ययन के लिए सांगिधानिक दर्शन की मूल प्रस्थापनाओं, सांविधानिक उद्घोषणाओं, न्यायिक निर्णयों आदि को आधार के रूप में स्वीकार किया गया है। यथा आवश्यक व यथाप्रसंग भारत में जनहित याचिकाओं से जुड़े मामलों का उल्लेख किया गया है, और अधिकारी विद्वानों की टिप्पणियों का उपयोग तथा विवेचन किया गया है।

अध्ययन आलोचनात्मक व विश्लेषणात्मक दोनों ही दृष्टियों को समाहित करता है। अध्ययन का आग्रह वस्तुनिष्ठ है और निष्कर्ष सांविधानिक प्रावधान व राजनीतिक सिद्धान्तों के तार्किक व वस्तुनिष्ठ अर्थात्ययन

पर आधारित है। जहाँ कहीं आलोचना की गयी है वह अवधारणात्मक, सदृश्यतापूर्ण व पूर्वाग्रह मुक्त है। इस शोध का निष्पादन कर अन्तिम चरण व निष्कर्ष तक पहुँचाने के लिए शोध की विश्लेषणात्मक पद्धति काम में लाई गई, जिसके विभिन्न चरण निम्नानुसार हैं –

प्राथमिक आँकड़ा संकलन

प्राथमिक आँकड़ों का संकलन विभिन्न घटकों व भागीदारों से साक्षात्कार कर तथा उनके विभिन्न राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं में आये साक्षात्कारों के आधार पर विभिन्न सूचनाओं को संकलित किया गया। इन घटकों व भागीदारों में सम्मिलित होंगे— न्यायाधीश, वकील, विभिन्न स्वयंसेवी संगठन के सदस्य व समाज के बुद्धिजीवी वर्ग के सदस्य, जो इस विषय में ज्ञान व रुचि रखते हैं।

द्वितीय आँकड़ा संकलन

तथ्य संकलन के द्वितीयक स्रोतों में राजनीति एवं युवा वर्ग तथा इनसे संबंधित विभिन्न प्रकार के विषय से सम्बन्धित विभिन्न पुस्तकों, शोध जर्नल, शासकीय एवं अशासकीय प्रकाशन और समाचार पत्र पत्रिकाओं एवं उपलब्ध साहित्य एवं प्रतिवेदनों आदि से जुटाए गए दस्तावेज आदि का प्रयोग किया गया, ताकि शोध को पर्याप्त आगत मिल सके।

केस अध्ययन

सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा जनहित याचिकाओं के तहत समय-समय पर महत्वपूर्ण निर्णय दिये गये हैं, उनका अध्ययन किया गया।

विश्लेषण व सूचना निर्माण

संकलित आँकड़ों व केस अध्ययन के निष्कर्षों को विश्लेषण की कसौटी पर परखा जाएगा, तथा जो आँकड़े दोहरावग्रस्त व अनुपयुक्त पाये जायेंगे, उन्हें पृथक कर उपयुक्त आँकड़ों को सूचना निर्माण में सम्मिलित किया गया ताकि शोध कार्य को गुणात्मक बनाया जा सका।

अन्तिम निष्कर्ष व सुझाव

अनुसन्धान में तथ्य संकलन एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, किन्तु मात्र संकलन से किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं की जा सकती। अतः सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि तथ्यों को सुव्यवस्थित करके उनका विश्लेषण किया जाए। अध्ययन में तथ्य विश्लेषण एवं तथ्यों के प्रस्तुतीकरण में समाज वैज्ञानिक रूप से महत्वपूर्ण प्रणालियों वर्गीकरण, सारणीयन, सांख्यिकी विश्लेषण आदि का प्रयोग किया गया। उपरोक्त समस्त विधियों का समर्पित भाव से अध्ययन कर अन्तिम निष्कर्ष निकाले गए तथा सुधार हेतु सुझाव दिये गए।

शोध से प्राप्त परिणाम

‘न्यायिक सक्रियता एक न्यायिक दर्शन है जो न्यायाधीशों को प्रगतिशील एवं नवीन नीतियों जो अपीलीय न्यायाधीशों से अपेक्षित मर्यादा से हमेशा से संगत नहीं है, के पक्ष में न्यायिक पूर्व निर्णय कठोर अनुपालन से विचलित हो, को अभिप्रेरित करती है। सामान्यतः यह सामाजिक अभियंत्रण की अपेक्षा वाले निर्णयों में स्पष्ट होती है और यदा-कदा ये निर्णय विधायी एवं कार्यपालिक विषयों में घुसपैठ का प्रतिनिधित्व करते हैं।’ न्यायाधीश

किसी भी वर्ग का क्यों न हो, जब उसके सामने जनहित सम्बन्धी मामले आते हैं तो वह उसके प्रति आंखमूदकर नहीं रह सकता। उच्चतम न्यायालय ने अपने समक्ष लाये गये कई महत्वपूर्ण मामलों पर निर्णय देने में कार्यपालिका की ओर से किये जा रहे विलम्बों का भी उल्लेख किया है। न्यायालय की इस कार्यवाही को सरकार की ओर से अपने कार्यों में हस्तक्षेप माना जा रहा है, जबकि न्यायिक क्षेत्र में न्यायालय के इस कार्य को न्यायिक सक्रियता माना जा रहा है।

जनहित याचिका के इतिहास में अमेरिका में गिडन बनाम राइट केस जनहित याचिका संबंधी प्रथम मामला था जो कि वहाँ 1876 में विधिक सहायता उपलब्ध कराने के संबंध में दायर किया गया था। इस मामले में श्री गिडन ने अमरीकन सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष अपना हस्तालिखित पत्र पेश करके याचना की कि फलोरिडा ट्रायल कोर्ट ने अन्वीक्षा में उसकी प्रतिरक्षा के लिए कोई अधिवक्ता नियुक्त करने से मना कर दिया। सर्वोच्च न्यायालय के सभी 9 न्यायाधीशों ने एकमत से याची को अपने केस की पैरवी के लिए अधिवक्ता की नियुक्ति किए जाने हेतु परमादेश जारी किया तथा यह मानकर इतिहास बनाया कि ऐसे मामलों में साधारण व सुपरिचित न्यायिक प्रक्रिया की पालना कराया जाना अनिवार्य नहीं है। जनहित याचिका के इतिहास में न्यायालय का यह निर्णय सामाजिक न्याय के क्षेत्र में मील का पत्थर माना जाता है। न्यायिक सक्रियता की अवधारणा अमेरिका में पैदा हुई और विकसित हुई। यह शब्दवली पहली बार 1947 में अर्थर सेली सिंगर जूनियर एक अमेरिकी इतिहासकार एवं शिक्षा प्रदायक द्वारा प्रयुक्त हुई।

जनहितवाद की विकास यात्रा न्यायिक सक्रियता से जुड़ी हुई है। न्यायिक सक्रियता कहीं तकनीकी रूप में सामने आती है और कहीं सामाजिक सक्रियता के रूप में सामने आती है। जनहित याचिका का अभिप्राय यह है कि पीडित व्यक्तियों के बदले अन्य व्यक्ति और संगठन न्याय की मांग कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि कोई व्यक्ति पीडित है परंतु उसमें न्यायालय में न्याय के लिए जाने की क्षमता नहीं है वैसी स्थिति में, अन्य व्यक्तियों तथा स्वैच्छिक संगठनों की यह अधिकार है कि वे पीडित व्यक्ति के बदले न्याय के लिए न्यायालय में याचिका पेश कर सकते हैं। यह व्यवस्था देश के आर्थिक एवं सामाजिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए उपलब्ध कराई गई है जिससे उन्हें न्याय मिल सके। उदाहरण के लिए, बंधुआ मजदूरों के लिए जनहित याचिका वरदान साबित हुई है। इतना ही नहीं देश की आम समस्याओं, जैसे— भ्रष्टाचार, को लेकर भी जनहित याचिका ने ऐतिहासिक निर्णय दिलवाया है। इस शब्द का प्रयोग वर्तमान समय में इस कारण किया जाना प्रारम्भ हुआ है कि न्यायालय अपने समक्ष लाये गये विवादों का अत्यधिक प्रभावी ढंग से निस्तारण कर रहा है और इस कार्य में कार्यपालिका को निर्देश भी कर रहा है। जनहित को लेकर कोई भी व्यक्ति न्यायालय में मुकदमा दायर कर सकता है। न्यायविदों ने अखबारी खबरों के आधार पर भी जनहित याचिका को स्वीकार किया है और अपने महत्वपूर्ण निर्णय दिये हैं।

भारत में न्यायिक सक्रियता का सिद्धांत 1970 के दशक में मध्य में आया। न्यायमूर्ति वी आर कृष्ण अच्यर न्यायमूर्ति पी एन भगवती न्यायमूर्ति और चिनणा रेड्डी तथा न्यायमूर्ति देसाई ने देश में न्यायिक सक्रियता की नींव रखी। भारतवर्ष में सर्वप्रथम जनहित याचिका के महत्व को 1976 में कानूनी मान्यता प्राप्त हुई जब उस समय के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति कृष्ण अच्यर ने मुम्बई कामगार बनाम अबदुल्ला भाई मामले में निर्णय देकर यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि—जनहित की व्यापक व्याख्या किया जाना इसलिए आवश्यक है कि इससे वैयक्तिक स्वतंत्रता के साथ—साथ अनगिनत व्यक्तियों के हित की रक्षा भी हो जाती है। विशेष तौर पर, जबकि ऐसे समुदाय को गरीबी व अज्ञान के कारण अपने अधिकारों का ज्ञान नहीं हो और आर्थिक विपन्नता के कारण वे लोग खर्चीली न्याय प्रणाली व नियमों की बाध्यता के कारण न्यायालय में जाने में असमर्थ हैं। न्यायाधीश कृष्ण अच्यर ने ऐसे ही सुधारवादी निर्णय देकर न्यायिक व्यवस्था को सक्रिय बनाने की दिशा में प्रगति की है।

न्यायाधीश श्री कृष्ण अच्यर ने फर्टिलाइजर कॉर्पोरेशन कामगार संघ बनाम भारत संघ मामले में कहा कि— विधि एक सामाजिक लेखा परीक्षक है। इस लेखा परीक्षण के कार्य के दीपक को कोई भी व्यक्ति जो वास्तव में व्यापक जनहित के लिए काटिबद्ध है, जलाकर न्यायालय से श्रवणाधिकार का क्षेत्राधिकार प्राप्त कर सकता है। भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती के विचार में, न्यायाधीश एक ऐसा सृजनात्मक कलाकार है, जिसके भीतर अस्तू एवं प्लेटो दोनों के गुणों का समावेश पाया जाता है। एक ओर जहाँ वह विधि के शासन का संस्थापक है वहाँ दूसरी ओर वह प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार न्याय प्रदान करने वाला दार्शनिक राजा भी है।

1979 में न्यायमूर्ति वाई. वी. चन्द्रचूड़ द्वारा अनुच्छेद -32 के अंतर्गत जनहित याचिका से सम्बन्धित व्यवस्था की गई। बाद में न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती ने मुख्य न्यायाधीश को भेजे गए पत्रों को ही जनहित याचिका के रूप में स्वीकार करके न्यायिक सक्रियता को एक नई दिशा प्रदान की। इस प्रकार जनहित याचिका की शुरुआत मुख्यतः 1979 से हुई। 1979 में बिहार की जेलों में बंद कैदियों पर समाचार पत्र में खबर छपी, जिसको आधार मानकर वकील ने सर्वोच्च न्यायालय में याचिका दाखिल की। यह है पहली जनहित याचिका के नाम से प्रसिद्ध थी जिसका नाम हुसैनारा खातून बनाम बिहार राज्य था। पत्रों से प्राप्त प्रथम जनहित याचिका सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन थी।

न्यायिक सक्रियता एवं सामाजिक न्याय की अवधारणा

सामाजिक न्याय की अवधारणा एक न्यायपूर्ण संतुलित समाज की स्थापना करती है, जिसमें उक्त धारणाएं समावेशित हैं। सामाजिक न्याय का मुख्य उद्देश्य मानव द्वारा मानव का शोषण समाप्त करना है और प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे अवसर उपलब्ध करवाना है जिससे वह अपनी योग्यताओं को अधिकतम विकास कर सके। इसमें गरीब, असहाय, निर्धन, पिछड़े लोगों को संरक्षण प्राप्त

होता है तथा मनुष्यों में समानता, स्वतंत्रता, समान भ्रातृत्व की भावना का विकास होता है।

शासन व्यवस्था के अध्ययन की परम्परा बहुत पुरानी है। आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व से ही प्राचीन यूनान में शासन व्यवस्था का सुव्यवस्थित अध्ययन करने का प्रयास किया जा रहा है। भारतीय संदर्भ में यदि देखा जाए तो मनु के समय से ही 'मनुस्मृति' में राज्य की उत्पत्ति, शक्ति, कार्यों एवं शासन व्यवस्था का सुव्यवस्थित अध्ययन देखने को मिलता है। इसके बाद प्राचीन काल में राजनीतिक विचारक कौटिल्य द्वारा शासन पर लिखित महत्वपूर्ण ग्रन्थ "अर्थशास्त्र" में शासन प्रक्रिया के विविध स्वरूपों तथा शक्तियों का सुव्यवस्थित वर्णन है। तत्पश्चात् शुक्राचार्य ने भी अपने ग्रन्थ "शुक्र नीतिसार" में शासन की संस्थाओं एवं सिद्धान्तों का वर्णन किया है।

भारतीय न्यायपालिका ने जनहित संबंधी याचिकाओं की सुनवाई करके विधिक क्षेत्र में एक नया आयाम जोड़ा है। जब भी कोई नागरिक जनसमुदाय की सारभूत हानि के तथ्यों की ओर उच्च न्यायालय व उच्चतम न्यायालय का ध्यान आकर्षित करता है तो न्यायपालिका ऐसे प्रकरणों की सुनवाई करके परमादेश, उत्तरेषण, बंदी प्रत्यक्षीकरण, प्रतिषेध तथा अधिकार पृच्छा जैसी रिटों को जारी कर अनुतोष प्रदान कर सकते हैं। इस प्रकार के आदेश पारित करते समय न्यायालय की यह देखना आवश्यक नहीं होता है कि जिस व्यक्ति ने याचिका दायर की है उसके किसी अधिकार का उल्लंघन हुआ है या नहीं। न्यायपालिका को मात्र जनसाधारण की हानियों का ही आकलन करना जरूरी होता है।

भारतीय संविधान द्वारा सरकार के तीनों अंगों कार्यपालिका, विधायिका एवं न्यायपालिका के कार्यों का स्थूल विभाजन किया गया है, और तीनों अंगों से यह अपेक्षा की गई है कि वे एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करें। परन्तु इसी के साथ संविधान में यह भी व्यवस्था की गई है कि यदि सरकार के तीनों अंगों में से कोई अपने कार्य की परिसीमा का उल्लंघन करता है या अपनी शक्तियों के आधिक्य में कार्य करता है, तो ये सभी अंग एक दूसरे अंग पर नियंत्रण स्थापित करें। कार्यपालिका पर इसी को ध्यान में रखते हुए न्यायिक तथा संसदीय नियंत्रण स्थापित किया गया है। और विधायिका पर न्यायपालिका द्वारा तथा न्यायपालिका पर विधायिका द्वारा नियंत्रण स्थापित किया जाता है। इस सीमाओं तथा परिसीमाओं के होते हुए भी भारत में न्यायपालिका तथा विधायिका के बीच टकराव हो जाता है और इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि भारत का संविधान कल्याणकारी राज्य की स्थापना करता है और संविधान को क्रियांवित करने तथा अन्तिम रूप से संविधान का निर्वचन करने की शक्ति न्यायपालिका में निहित है। इस शक्ति का प्रयोग जब उच्चतम न्यायालय कठोरता से करता है तब न्यायालय की आलोचना होने लगती है। और यह कहा जाने लगता है कि न्यायालय अधिक सक्रिय हो गया है।

निष्कर्ष

यह एक न्यायिक धारणा है जिसमें न्यायपालिका बड़े पैमाने पर समाज के लोगों के लिए लाभकारी

संवैधानिक रूप से सही कानूनों को लागू करने के लिए अपनी शक्तियों का उपयोग करती है। न्यायिक सक्रियता में, न्यायपालिका अपनी शक्तियों का उपयोग उन कानूनों या नियमों को रद्द करने के लिए करती है जो नागरिकों के मूल अधिकारों में बाधा उत्पन्न या अन्याय को ठीक करने का अधिकार प्रदान करता है। सरकार के तीनों अंगों न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका का अपने—अपने अधिकार सीमा में सुचारू रूप से काम करना, किसी भी देश के लिए जरूरी होता है। जहाँ न्यायपालिका का काम विधिक न्याय देना है वहाँ सामाजिक और आर्थिक न्याय की जिम्मेदारी कार्यपालिका और संसद की होती है, लेकिन जब संसद और कार्यपालिका अपनी विश्वसनीयता खोने लगती है तब न्यायपालिका की सक्रियता बढ़ जाती है। यह लोकहित, विधि के शासन एवं संविधान को मूल भावना के संरक्षण का एक असामान्य, अपरम्परागत किंतु प्रभावी यंत्र है। न्यायिक सक्रियता एक ओर जहाँ कार्यपालिका की त्रुटियों की द्योतक है वहाँ इससे विधायिका के अनुत्तरदायित्व का भी बोध होता है।

न्यायिक सक्रियता के विरुद्ध यह आक्षेप लगाया जाता है कि न्यायपालिका इससे अनावश्यक रूप से कार्यपालिका एवं विधायिका के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करती है, जिससे न केवल संवैधानिक संकट ही उत्पन्न हो सकता है अपितु इससे कार्यपालिका के मनोबल में भी गिरावट जाती है। इसके परिणामस्वरूप निर्वाचित जन-प्रतिनिधियों की महत्ता तो कम होती ही है साथ ही इससे न्यायालय के मन-सम्मान एवं उसकी निष्पक्ष छवि पर भी नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है। यदि इस विषय पर गहराई से ध्यानपूर्वक विचार किया जाए तो न्यायिक सक्रियता के विरुद्ध लगाए जाने वाले उल्लिखित सभी आरोप निराधार ही सिद्ध होते हैं। वास्तव में न्यायिक सक्रियता से ही विधि के शासन की स्थापना होती है। संक्षेप में, न्यायिक सक्रियता को लोकतंत्र पर आधात मानना अथवा उसके प्रतिकूल बताना बिल्कुल भी सही नहीं होगा। भारत के संविधान द्वारा कार्यपालिका, विधायिका एवं न्यायपालिका दोनों के कार्यों एवं क्षेत्राधिकारों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। किंतु, जब कार्यपालिका और विधायिका द्वारा अपने उत्तरदायित्वों का वहन ठीक प्रकार से नहीं किया जाता, जिसके परिणामतः रूप समाज में अन्याय, और अशांति को प्रोत्साहन प्राप्त होने लगे तब न्यायिक सक्रियता से सुधार सम्भव हो सकता है। ऐसे में लोकतंत्र के प्रति जन-साधारण के विश्वास को न्यायिक सक्रियता ही बल प्रदान करती है।

सुझाव

संविधान को लागू हुए कई दशक व्यतीत हो गए हैं लेकिन गरीब एवं अशिक्षित जनता को आशा थी, कि कोई दिन आयेगा कि हामरे संविधान निर्माताओं का सपना साकार होगा एवं देश में आमूल-चूल परिवर्तन होगा। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया देश प्रगति के पथ पर उन्मुख तो होता गया किन्तु अनेक विकराल समस्याओं ने जन्म लिया, जिसमें प्रमुख रूप में सत्ता लोलुपता के

कारण राजनीतिक भ्रष्टाचार, सरकारी तन्त्र एवं सम्बन्धित निकायों में अनैतिकता एवं भ्रष्टाचार सरकार की उपेक्षापूर्ण नीतियां, प्रशासनिक शिथिलता एवं अकर्मण्यता, महिलाओं एवं बच्चों के साथ दुर्व्यवहार, प्रान्तवाद, भाषावाद, जातिवाद एवं आतंकवाद आदि अनेक ऐसे कारण बने जिनमें राजनीतिक नेता संविधान के उद्देश्यों को भूलकर अपने सत्ता प्राप्ति एवं राजनीति को धन कमाने का साधन मानकर राजनीति को समाजपरख न मानकर व्यक्तिपरख मान बैठे, परिणामस्वरूप सामाजिक न्याय का सिद्धान्त विफल होता दिखाई दिया।

राजनीतिक न्याय व्यवस्था की प्रशासनिक शिथिलता एवं अकर्मण्यता के कारण न्यायपालिका ने यह देखा कि देश के करोड़ों गरीबों, कृषकों, मजदूरों को न केवल सामाजिक और आर्थिक न्याय मिल पा रहा है, बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में वातावरण दूषित है तथा जीविकोपार्जन के साधन के साथ-साथ गरिमापूर्ण जीवन यापन मुश्किल हो गया है। समाज के विभिन्न क्षेत्रों में बंधुआ मजदूरी, कैदियों के साथ अमानवीय व्यवहार, विधिक सहायता का अभाव, परीक्षण में देरी, पुलिस यातना एवं दुर्व्यवहार, गरीब व असहाय को आवास की समस्या, नारी निकेतनों की दुर्दशा के साथ-साथ बढ़ते हुए औद्योगिक विकास एवं गैर-जिम्मेदारीपूर्ण व्यवहार के कारण चारों तरफ फैलता हुआ जल, वायु और ध्वनि प्रदूषण तथा नैतिक पतन हो रहा है जिनके परिणामस्वरूप जनहित में संरक्षण की अत्यंत आवश्यकता है।

विगत कुछ वर्षों में न्यायपालिका द्वारा देश की राजनीति, प्रशासन एवं सामाजिक-आर्थिक जीवन में व्याप्त सुस्ती, भ्रष्टाचार एवं अन्याय के निवारण ऐसे अनेक निर्णय प्रेषित किए, जो कि न्यायिक सक्रियता का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। संवेधानिक दृष्टिकोण से भारत एक लोकतांत्रिक समाजवादी कल्याणकारी देश है, जिसमें न्यायपालिका की भूमिका एक सजग प्रहरी की है। भारत के संविधान द्वारा व्यवस्थापिक, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के कार्यों का उल्लेख किया गया है तथापि भारत में लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के परिपेक्ष में न्यायपालिका की सक्रिय, सजग एवं कर्तव्यपरायण स्थिति व्यावहारिक दृष्टिकोण से पूर्णतः उचित ही है। न्यायपालिका गरीबों, शोषितों, उपेक्षितों तथा पद दलितों के लिए अंतिम शरण-स्थल है। अपनी अस्मिता तथा गरिमा की रक्षा के लिए प्रत्येक सुसंस्कृत देश का नागरिक न्यायपालिका की ओर निहारता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हित की रक्षा के लिए न्यायालय की ओर से आश्वस्त रहता है कि वहां पर उनके हितों की रक्षा हो सकेगी। न्यायपालिका के निर्णय का ही जनसाधारण के मस्तिष्क पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। न्यायपालिका की आदरणीय स्थान दिए बिना किसी देश को सभ्य कहने की कल्पना तक नहीं की जा सकती, क्योंकि राज्य या समाज का कैसा भी स्वरूप हो, जब तक विरोधों और विभेदों की संभावना रहेगी, श्रेष्ठ, स्वतंत्र एवं सक्षम न्यायपालिका की आवश्यकता सदैव बनी रहेगी। न्यायालय की सक्रियता से कई घोटाले तथा भ्रष्टाचार के मामले प्रकाश में आये हैं, जिस कारण सामान्य जन की

न्यायालय के प्रति विश्वास में वृद्धि हुई है और यह देश के लिए ही नहीं बल्कि लोकतन्त्र के लिए भी शुभ संकेत है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अय्यर, वी.आर. कृष्णा, 'हूमन राइट्स एंड द लॉ' वेदवाल लॉ हाउस, इंदौर 1984.

ऑस्टिन, ग्रेनविल, 'दि इंडियन कॉस्टीट्यूशन: कॉनर-स्टोन ऑफ ए नेशन' ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966.

कागजी, एम.सी.जे., 'दी कॉस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया', 1975.

गुप्ता, बी.एस., 'इंडिया: प्रोब्लेम्स ऑफ गवर्नेंस'

गौतम, रमेशप्रसाद, 'भारत में मानवाधिकार उल्लंघन, संरक्षण, क्रियान्वयन एवं उपचार', सागर विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर

जैन, यू.सी. एवं नायर, जीवन 'ज्यूडिशियरी इन इंडिया'

जोशी, आर.पी., 'मानव अधिकार और कर्तव्य' ए.वी. पब्लिकेशन्स, अजमेर

डायसी, ए.वी., 'द लॉ ऑफ दी कॉस्टीट्यूशन' 1961.

देसाइ, ए.आर., 'वॉयलेशन ऑफ डेमोक्रेटिक राइट्स इन इंडिया' (सं.) बम्बई पॉपुलर प्रकाशन खण्ड 3, 1986

धवन, आर., पब्लिक इंटरेस्ट लिटिगेशन इन इंडिया : एन इनवेस्टिगेटिव रिपोर्ट' नई दिल्ली, 1981.

धवन, राजीव और एलिस जेकब, 'इंडियन कॉस्टीट्यूशन : ट्रेड्स एंड इश्यूज' (सम्पादित), 1978.

नेमा, जी.पी. एवं शर्मा के, 'मानवाधिकार सिद्धान्त और व्यवहार'

पांडे, जे.एन., 'कॉस्टीट्यूशनल लॉ ऑफ इंडिया', 1988.

पायली, एम.वी., 'कॉस्टीट्यूशनल गवर्नमेंट इन इंडिया' एस. चंद्र प्रकाशन, नई दिल्ली, 1966

बकशी, उपेन्द्र, 'इंडियन सुप्रीम कोर्ट एड पॉलिटिक्स', लखनऊ : ईस्टर्न बुक कम्पनी, 1980

बकशी, उपेन्द्र, 'इनहूमन रोंग्स एंड हूमन राइट्स': अन्कन्वेशनल एसेज'

बकशी, उपेन्द्र, 'करेज क्राफट एंड कंटेशन' नई दिल्ली : लांसर इंटरनेशनल, 1987

बकशी, उपेन्द्र, 'द राइट टु बी हूमन', नई दिल्ली : लांसर इंटरनेशनल, 1989.

बसु, डी.डी., 'कमेंट्री ऑन द कॉस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया एन.सी. सरकार', 10 भागों में प्रकाशित महत्वपूर्ण ग्रन्थ, कलकत्ता 1965.

भाटिया, के.एल., 'ज्यूडिशियल एक्टिविज्म एंड सोशल चेंज', (सम्पादित) दीप एण्ड दीप, नई दिल्ली 1990.

राय, एस.एन., 'ज्यूडिशियल रिव्यू एंड फंडामेंटल राइट्स' ईस्टर्न लॉ हाउस कलकत्ता, 1974.

राव, जी.आर.एस., 'पॉलिटिकल पॉपुलिज्म, एजमिनिस्ट्रेटिव

केरियारिज्म एंड ज्यूडिशियल एक्टिविज्म'

वेंकटरमेया, ई. एस., 'हूमन राइट्स इन दी चंजिंग वर्ल्ड', 1988.

हीयर, के.सी., 'मॉडर्न कॉस्टीट्यूशन', 1966.

शमर्फ, एस. एन., पर्सनल लिबर्टी अंडर इंडियन
कॉस्टीट्यूशन' दीप एण्ड दीप, नई दिल्ली,
1991.

सिंह, नगेन्द्र, 'एनफोर्समेन्ट ऑफ ह्यूमन राइट्स' ईस्टर्न लॉ
हाउस, कलकत्ता 1986.

सीरवई, एच.एम., 'द कॉस्टीट्यूशनल लॉ ऑफ इंडिया',
1975.

हिन्दूइज्म, सेक्युलरिज्म एंड द इंडियन ज्यूडिशियरे'
सिंबोलिक एविटविज्ञ : ए ज्युडिशियल एनकाउंटर विद दी
कन्ट्रस ऑफ इंडियाज कपेसेटरी डिस्क्रिमिनेशन
पॉलिसी'

प्रमुख समाचारपत्र

जनसत्ता : नई दिल्ली

द टाइम्स ऑफ इण्डिया : नई दिल्ली

दैनिक जागरण : नई दिल्ली

दैनिक भास्कर : जयपुर

पंजाब कैसरी : नई दिल्ली

राष्ट्रीय सहारा : नई दिल्ली

राजस्थान पत्रिका : जयपुर

हिन्दुस्तान टाइम्स : नई दिल्ली